UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186019

UNIVERSAL
LIBRARY

107

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 81 C54K Acc No. P.G.H 1960

Author : चौबे कुंजविहारी

Title : ? ? काव्य संग्रह

Osmania University Library

No. H 81 C54K Accession No. P.G.H 1960

hor चौबे कुंजबिहारी

कुंजबिहारी - काव्यसंग्रह

This book should be returned on or before the date last ked below.

काव्य

कुंजविहारी-काव्यसंग्रह

लेखक

स्वर्गीय कुंजविहारी चौबे

प्रकाशक

प्रेमा पुस्तक-माला,

इंडियन प्रेस, (पब०) लिमिटेड,

जबलपुर-शाखा,

जबलपुर

प्रथमावृत्ति

मूल्य ।।।)

Printed by P. L. Yadava
at The Indian Press, Ltd., Allahabad

सूची

विषय			पृष्ठ
	कुंजविहारी [ले० श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी]		१-६
१	युग-विधाता युवक !	...	१
२	अपना असली वेश छिपाकर रखता हूँ	...	३
३	जीवन का भार ढो रहा हूँ	...	५
४	मेरे हृदय-कुंज में	...	६
५	तुम्हारी स्मृति में काटी रात	...	१०
६	साथी के प्रति	...	१२
७	एकमात्र आधार तुम्हीं हो	...	१३
८	मिट गया दीपक	...	१४
६	खो गई तिमिर में छाया	...	१५
१०	मौन रहकर बोलता हूँ	...	१६
११	होगा प्रियतम से प्रथम मिलन	...	१७
१२	अवसाद लिये संध्या आई	...	१६
१३	ये लोचन भर आते हैं	...	२२
१४	मेरे भी अश्रु बहे आज	...	२३
१५	लज्जित उषा बाला	...	२५
१६	तुम भी क्यों मुझसे रूठ चले ?	...	२७
१७	आये दर्शन हेतु तुम्हारे	...	२८
१८	दुख के दोस्त हमारे	...	३०
१६	किसलिए न वापस आये ?	...	३१
२०	मदिरा के संबंध में	...	३२

विषय			पृष्ठ
२१	मैं कहूँ किससे ? कहूँ ही क्यों—कि क्या है चाह मेरी !		४६
२२	पूछते हो ?	...	५३
२३	मैं ही अनादि, मैं ही अनंत !	...	५८
२४	मैं सोचा करता हूँ प्रतिपल	...	६०
२५	हृदय के गान	...	६२
२६	विश्व जो माँगे अगर वह मोल दूँ ?	...	६३
२७	मर गया भगवान मेरा	...	६४
२८	कैसे जी बहलाऊँ ?	...	६५
२९	मृत्यु-भय	...	६६
३०	मैं पापों का शुचि गान लिये फिरता हूँ	...	६७

कुञ्जविहारी

[ले० श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी]

उस दिन कुञ्जविहारी की मृत्यु की खबर पाकर मैं क्षण भर अवाक् रह गया। किसी भी तरुण की आकस्मिक मृत्यु का समाचार सुनकर हृदय पर आघात लगता है। साधारणतया हम लोग यही समझते हैं कि बालक से युवक, युवक से प्रौढ़ और प्रौढ़ से वृद्ध होकर मनुष्य अपने जीवन का उपभोग कर मृत्यु को प्राप्त होता है। मृत्यु कोई असाधारण घटना नहीं है। यह जीवन नश्वर ही है। किन्तु तरुणावस्था ही में जीवन नष्ट हो जाना बड़ा दुःखद हो जाता है। यह सच है कि जीवन की गरिमा सभी को उपलब्ध नहीं होती। अधिकांश लोग जन्म से लेकर मृत्यु तक क्षुद्रता में ही अपना जीवन व्यतीत करते हैं। संसार में सफलता की जो कसौटी मानी गई है उस पर कसे जाने से कुछ ही लोग सफल माने जा सकते हैं। अधिकांश व्यक्ति क्षुद्र कामों में ही निरत रहकर कष्ट, अपमान और व्यथा सहकर अपना जीवन व्यतीत करते हैं। जीवन में सफलता के जो सोपान माने गये हैं उन पर चढ़ने का भी वे प्रयास नहीं करते। साधारण स्थिति में जन्म लेकर जो अपने दृढ़ सङ्कल्प, अदम्य उत्साह, असीम धैर्य और अनवरत परिश्रम के द्वारा गौरव के उच्च शिखर पर पहुँच जाते हैं वे असाधारण व्यक्ति होते हैं। वे प्रतिकूल स्थिति को भी अनुकूल बना लेते हैं। वे विपत्तियों से सहिष्णुता का गुण प्राप्त करते हैं। पर सभी लोगों के लिए यह बात नहीं कही जा सकती। कितने ही लोग ऐसे होते हैं जिनमें बुद्धि की विलक्षणता और असाधारण क्षमता रहती है। परन्तु कोई अदृश्य शक्ति उनके जीवन का कुछ ऐसा विधान कर देती है कि उनकी असाधारणता ही उनको कृतकार्य नहीं होने देती।

कुञ्जविहारी ऐसे ही व्यक्तियों में से एक था। जब मैंने यह सुना कि उसने आत्महत्या की है तब मुझे विशेष आश्चर्य नहीं हुआ। कुञ्ज-विहारी ने कोई भी काम साधारण युवक की तरह कभी नहीं किया। जैसा असाधारण उसका जीवन था वैसी ही असाधारण उसकी मृत्यु हुई। मेरे लिए जैसा रहस्यमय उसका जीवन था वैसी ही रहस्यमय उसकी यह मृत्यु थी। जब उसके जीवनकाल में ही मैं यह नहीं समझ सका कि उसने कब, किन भावों से प्रेरित होकर कोई काम किया, तब यह आज कैसे जान सकता हूँ कि किन भावों से प्रेरित होकर उसने तरुणावस्था में ही अपने जीवन को, तुच्छ समझकर, त्याग दिया। अब यह कौन बतला सकता है कि उसने किसमें अपने जीवन की सफलता या विफलता समझी। जीवन का मोह इतना प्रबल होता है कि कितने ही लोग दैन्य, अपयश और शारीरिक तथा मानसिक यन्त्रणा सहकर भी उसे नहीं छोड़ सकते। तब उसी ने सहर्ष मृत्यु को कैसे आलिंगन कर लिया ?

जब मैं राजनाँदगाँव के हाईस्कूल में मास्टर था तब वह वहीं पढ़ता था। उस पर मेरा विशेष स्नेह हो गया था। इसी से स्कूल छोड़ देने के बाद भी वह मेरा सहचर बना रहा। यह सच है कि वह मेरे लिए सदैव अज्ञात और अपरिचित ही रहा। उसके कितने ही कार्यों से विस्मित होकर मैंने उसके सच्चे भाव जानने की चेष्टा की; पर मैं उन्हें कभी नहीं जान सका। सच तो यह है कि जो लोग हमारे बिलकुल पास रहते हैं वही हमारे लिए सबसे अधिक अज्ञेय हो जाते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि वे सदैव सतर्क रहते हैं कि कोई उनका समीपवर्ती उन्हें ठीक-ठीक न जान-पहचान ले। यही कारण है कि भाई-भाई, पिता-पुत्र, गुरु-शिष्य में ही एक दूसरे के प्रति अज्ञान बना रहता है। हम ऐसे परिचित स्वजनों और गुरुजनों से आदर और स्नेह ही चाहते हैं, इसी से उनके समक्ष हम अपनी दुर्बलता प्रकट नहीं कर सकते। अपने हृदय की बात हम अपने समवयस्क मित्र से भले ही कह दें किन्तु

अपने बन्धु-बान्धवों या गुरुजनों से नहीं कह सकते। कौन भाई अपने भाई से या कौन शिष्य अपने गुरु से अपने अन्तःस्थित सच्चे भावों को व्यक्त करने का साहस कर सकता है? भाई-भाई में, गुरु-शिष्य में मैत्री नहीं हो सकती। मैत्री के लिए बाहर का ही कोई व्यक्ति उपयुक्त होता है। ऐसा व्यक्ति हमारे आदर का पात्र नहीं, उसे हम बड़ा नहीं समझते, उसे हम मान भी नहीं देते, उसे हम केवल अपना लेते हैं। तभी उस पर हमारा स्नेह होता है, तभी हम उस पर विश्वास करते हैं। स्नेह और विश्वास के लिए गौरव और आदर दोनों घातक होते हैं। उनमें एक आशङ्का रहती है, उनमें एक भय रहता है, एक सङ्कोच रहता है। सच्ची मैत्री में ये भाव सम्भव नहीं। यही कारण है कि कितने ही वर्षों तक कुञ्जविहारी के साथ रहकर भी मैं उसे नहीं पहचान सका। उसका आदरपात्र और श्रद्धाभाजन होकर भी मैं कभी उसका विश्वासपात्र नहीं हो सका।

जब कुञ्जविहारी छात्र था तभी उसकी असाधारण प्रतिभा देखकर मैं उसकी योग्यता पर मुग्ध हो गया था। जब कभी वह मेरी इच्छा के विरुद्ध कोई काम करता था तब मैं उसे समझाता था, धमकाता था और सभी प्रकार के उपाय करता था जिससे वह अन्य अच्छे छात्रों की तरह एकमात्र विद्याध्ययन में ही निरत रहे। पर मेरे सभी आदेश और उपदेश व्यर्थ हुए। मुझ पर श्रद्धा रखकर भी वह कभी मेरे द्वारा निर्दिष्ट पथ पर नहीं चला। सच तो यह है कि कुञ्जविहारी के समान छात्रों पर किसी भी शिक्षक का प्रभाव नहीं पड़ सकता। शिक्षक उनके पथ-निर्देशक नहीं हो सकते। वे उनके जीवन-पथ में शिला-खण्डों की तरह निश्चेष्ट रहकर केवल मार्ग के प्रदर्शक हो जाते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि कुञ्जविहारी में प्रतिभा थी, पर प्रतिभा तो ईश्वरप्रदत्त असाधारण बुद्धि है। उसके विकास के लिए असाधारण परिस्थिति भी चाहिए। मैंने यह देखा है कि छात्रावस्था में वही लोग सबसे अधिक सफलता प्राप्त करते हैं जिनमें प्रतिभा का अभाव

रहता है। ऐसे छात्र परिश्रम करते हैं, अपने पाठों को याद करते हैं, मास्टरों के अनुशासनों को मानते हैं और कभी किसी काम में अपनी ओर से त्रुटि नहीं करते। उनमें अध्यवसाय रहता है, धैर्य रहता है, संयम रहता है और सहिष्णुता रहती है। उनका जीवन नियमबद्ध रहता है, इसी से क्रमशः उनकी बुद्धि का विकास होता जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि वे सभी परीक्षाओं में सफलतापूर्वक उत्तीर्ण हो जाते हैं, संसार में प्रविष्ट होने पर ऐसे ही लोग उच्च पद पाकर प्रतिष्ठा और सम्मान के साथ अपना जीवन व्यतीत करते हैं। परन्तु वे कभी असाधारण कार्य नहीं करते। जीवन भर साधारण कार्यों में व्यस्त रहकर, सुख और ऐश्वर्य का उपभोग कर, वे अपने बाद अपनी कोई भी ऐसी कृति नहीं छोड़ जाते जिनसे वे चिरस्मरणीय बनें। इसके विपरीत जिनमें प्रतिभा होती है उनके सभी कार्य असाधारण और विलक्षण होते हैं। उनका जीवन नियम-बद्ध नहीं होता। उनमें एक स्वच्छन्दता रहती है जो उनको उच्छृङ्खल बना देती है। छात्रावस्था में प्रह्लाद की तरह वे अपने गुरुजनों के प्रति विद्रोह कर अपने ही भावों का अनुसरण करते हैं। जब अन्य छात्र अपने पाठों का अध्ययन करते हैं तब वे भगवद्भक्ति या देश-सेवा या जाति-चिन्ता में लीन रहते हैं। गुरुजनों का अभिवादन करते समय वे हरे कृष्ण या वन्दे मातरम् कहकर जगत्-गुरु या जन्म-भूमि की वन्दना करते हैं। गुरुजनों का कोई भी प्रभाव उन पर नहीं पड़ता। वे अपने लिए एक नये ही पथ का निर्माण कर लेते हैं। संसार का कोई भी प्रलोभन उन्हें अपने मार्ग से विचलित नहीं कर सकता। यश और अपयश दोनों को तिरस्कृत कर वे निर्द्वन्द्व होकर अपनी ही प्रवृत्तियों का अनुसरण करते हैं। साधारण जीवन से उन्हें विरक्ति होती है। निर्दिष्ट कार्य-क्रम से उन्हें असन्तोष होता है। संसार की प्रचलित नीति से उन्हें क्रोध होता है। विद्रोह उनकी आत्मा में रहता है। उनमें अत्यधिक उदारता रहती है, अत्यधिक सहिष्णुता रहती है और

अत्यधिक साहस रहता है। यही कारण है कि वे निश्शङ्क संसार के विरुद्ध खड़े हो जाते हैं। संसार जिसे स्पृहणीय समझता है उसे वे तुच्छ समझकर छोड़ देते हैं और संसार जिसको नीच समझकर छोड़ देता है उसे वे सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं। यही सब भाव मैंने कुञ्जविहारी में भी पाये।

कुञ्जविहारी के पिता सुधारक हैं। उन्होंने छत्तीसगढ़ में ब्राह्मणों की एक सभा कर ब्राह्मण-समाज में सुधार प्रचलित करने का प्रयत्न किया। कुञ्जविहारी ने ब्राह्मणत्व को ही तिरस्करणीय समझा। उसने ब्राह्मणत्व के आचारों को सबसे पहले त्याज्य समझा। वह किसी के भी घर में खा लेता था। यही नहीं, जो समाज में नीच समझे जाते हैं उन्हीं से उसने सबसे पहले मेल किया। विवाह को धर्म का बन्धन मानकर हिन्दू समाज की वैवाहिक व्यवस्था में जो दोष आ गये हैं उनको दूर करने के लिए कितने ही सुधारक प्रयत्न कर रहे हैं। कुञ्जविहारी विवाह के बन्धन पर ही कुठाराघात करना चाहता था। धर्म के नाम से जो उपासना होती है उसे भी वह मिथ्या समझता था। इमर्सन की तरह उसका भी यह विश्वास था कि धर्म स्वभाव के अनुकूल होना चाहिए। यदि उसका मन शैतान का अनुवर्ती है तो उसी के पथ को स्वीकार करने से उसका कल्याण हो सकता है।

कुञ्जविहारी में जो दोष थे वे सभी उसकी अवस्था के अनुकूल थे। तरुणावस्था में सभी के लिए यह संसार कौतुकागार रहता है, यथार्थ जगत् की कठोरता का उन्हें अनुभव नहीं रहता। नवीनता और विलक्षणता में ही उन्हें आनन्द आता है। उनकी समझ में संसार का यह जीवन-नाटक उनके मनोविनोद के लिए खेला जाता है। जीवन और मृत्यु की सभी घटनाएँ उनके लिए कौतूहलप्रद होती हैं। अपनी महत्त्वाकांक्षा को अपनी योग्यता समझकर उन्हें अपनी क्षमता पर जरा भी सन्देह नहीं हो सकता। अपनों से बड़ों के प्रति श्रद्धा रखकर भी यथार्थ में उनके उपदेशों और शासनों से उन्हें विरक्ति

होती है। अपने गुरु-जनों से वे प्रशंसा ही चाहते हैं। अपने विश्वास की दृढ़ता के कारण वे अपने कार्यों में किसी प्रकार की बाधा नहीं सह सकते। वर्तमान युग में स्वतन्त्रता की जो शिक्षा उन्होंने पाश्चात्य साहित्य से प्राप्त की है उसके कारण वे उच्छृङ्खलता को स्वतन्त्रता समझ लेते हैं। उन्हें अपनी इच्छा के अनुसार अधिकार न मिलने पर एक तीव्र असन्तोष होता है। कुञ्जविहारी की कविताओं में असन्तोष और विद्रोह की यही भावना विद्यमान है। वह उपदेश नहीं चाहता था, वह चाहता था कि लोग उसका साथ दें। यदि किसी को शराब पीने से ही शान्ति मिलती है तो उसकी निन्दा क्यों की जाय? यदि कोई दुराचार में प्रवृत्त है तो उससे घृणा क्यों की जाय? उसने अपनी एक कविता में भगवान् के विरुद्ध यही भाव व्यक्त किया है। उसने यह स्पष्ट कह दिया है कि भगवान् उसके लिए मर गया है।

इसमें सन्देह नहीं कि कुञ्जविहारी को अपनी प्रतिभा के विकास के लिए अनुकूल परिस्थिति नहीं मिली। इँग्लैंड में टामस चैटरटन नामक एक प्रतिभाशाली युवक था। उसने टामस रोले नामक एक प्राचीन कवि के नाम से स्वयं एक काव्य-ग्रन्थ की रचना की। जब वह प्रकाशित हुआ तब कितने ही विज्ञों को बड़ा आश्चर्य हुआ। पर अन्त में एक विज्ञ ने उसकी सत्यता जान ली और उसके उस कपट को प्रमाणित कर दिया। उस नवयुवक को इससे इतनी ग्लानि हुई कि १७ वर्ष की अवस्था में ही उसने आत्महत्या कर ली। इस प्रकार एक प्रतिभाशाली युवक के जीवन का दुःखद अन्त हो गया। कुञ्जविहारी की मृत्यु को भी मैं एक ऐसी ही दुर्घटना समझता हूँ। उसमें महत्त्वाकांक्षा थी। वह जीवन की यथार्थ गरिमा प्राप्त करना चाहता था। संसार में साधारणजनों के लिए जो मान स्पृहणीय होता है, जो स्थिति वाञ्छनीय होती है, जो काम गौरवजनक होता है उसमें उसने कोई सार नहीं पाया। शिक्षा के क्षेत्र में उसने कालेज की उच्च शिक्षा को व्यर्थ समझकर स्वेच्छा से छोड़ दिया। साहित्य

के क्षेत्र में जिन रचनाओं से लेखक अपना जीवन निर्वाह करते हैं उनसे उसे चिढ़ थी। देश-सेवा के काम में स्वार्थ-सिद्धि, कपट और धूर्त्तता देखकर उसे घृणा हो गई। अन्त में उसने धर्म का आश्रय लिया। परन्तु उससे उसकी व्याकुलता दूर नहीं हुई। वह अपना धैर्य खो बैठा और कदाचित् इसी कारण ऐहिक जीवन से विरक्त होकर उसने उसको त्याग दिया।

जीवन के एक ओर एक विकट संग्राम है और दूसरी ओर रंगभूमि का अभिनय है। जीवन-संग्राम में सफलता प्राप्त करने के लिए अपनी क्षमता बढ़ानी पड़ती है। अपनी इस क्षमता-वृद्धि के प्रयास में हमें सभी प्रकार के उपायों का अवलंबन करना पड़ता है। सभी लोगों की एक-सी नीति नहीं होती। संसार के लब्धप्रतिष्ठ लोगों के जीवन में भी धूर्त्तता और कपट का अभाव नहीं है। इसी लिए सत् और असत् का निर्णय करना बड़ा कठिन हो जाता है। संसार में प्रचलित नीति के विरुद्ध आज कल जो विद्रोह की भावना जाग उठी है उसका भी कारण यही है कि अभी तक जिसे हम सत् समझते आ रहे हैं उसमें भी हमें एक अन्याय दिखाई दे रहा है। एक ओर आत्मरक्षा का प्रश्न है, दूसरी ओर आत्म-त्याग का आदर्श है। एक ओर शक्ति का प्रभुत्व है और दूसरी ओर सत्य की प्रतिष्ठा है। एक ओर धन की लोलुपता है और दूसरी ओर सेवाव्रत का कष्ट है। जब हम देखते हैं कि सदाचार की मर्यादा का उल्लङ्घन कर और दुर्नीति में लिप्त होकर भी कितने ही श्रीसम्पन्न लोग आजीवन ऐश्वर्य का उपभोग करते हैं और कितने ही पुण्य-चरित्र सज्जन, अत्याचार से पीड़ित हो दुःख ही सहते हैं, तब हमें सदाचार की महिमा पर सन्देह हो जाता है। जब पति-भक्ति और पाति-व्रत के नाम से कितनी ही नारियाँ अत्याचार और कष्ट सहती हैं तब उनके पतिदेव उनकी सेवा को अपना धर्म-प्रदत्त अधिकार समझकर स्वच्छन्द बने रहते हैं। उस समय हिन्दू-समाज की यह नीति कैसे अन्यायपूर्ण नहीं प्रतीत होगी? एक जाति अन्य जाति को अपनी क्षमता

से पराभूत कर और उसे पद-दलित कर अस्पृश्य तक बना डालती है। एक जाति का दास होकर अन्य जाति की सेवा स्वीकार कर अपमान की वेदना सहनी पड़ती है। ऐसी स्थिति में यही प्रकट होता है कि छल और कपट सत्य से कहीं अधिक स्पृहणीय हैं, सम्पत्ति सदाचार से कहीं अधिक वाञ्छनीय है और पाशविक शक्ति आत्मबल से कहीं अधिक वर्धनीय है। राजपूतों का शौर्य प्रसिद्ध है। जिस जाति की स्त्रियाँ तक हँसते हँसते अग्नि में कूदकर प्राण दे सकती हैं उस जाति के शौर्य में सन्देह नहीं किया जा सकता। इतिहास में राजपूत वीरों के पराक्रम की सैकड़ों कथाएँ हैं। ऐसी वीर जाति का पराभव जिन कारणों से हुआ उनमें एक मुख्य कारण है उनकी सुनीति, उनका धर्म-पालन, स्वामि-भक्ति, प्रतिज्ञा-पालन, उदारता, कुलाभिमान, मर्यादा-पालन और आत्मगौरव। इन्हीं के लिए कितने ही राजपूत वीरों ने सहर्ष प्राण दे दिये। पर आज उनकी गौरव-गाथा का गान करने पर भी हम उनकी नीति का अनुसरण करना शायद नहीं चाहेंगे।

यह तो स्पष्ट है कि अब नीति का दूसरा ही आदर्श हो गया है। समाज-नीति और राज-नीति दोनों के आदर्श अब परिवर्तित हो गये हैं। जीवन को संग्राम मान लेने पर प्रतिस्पर्धा और प्रतिद्वन्द्विता को स्वीकार करना ही पड़ता है। उस समय बन्धुत्व और समता का घोर निनाद करने पर भी प्रेम का स्थान संशय ले लेता है। अपने प्रतिद्वन्द्वियों को भयग्रस्त कर हम उन्हें पराभूत करना चाहेंगे। प्रेम और त्याग, सेवा और सहिष्णुता, उदारता और प्रीति आदि की महत्ता तब नहीं रह जाती। प्रभु और भृत्य, शासक और शासित, उच्च और नीच का वैषम्य इतना तीव्र हो जाता है कि सर्वत्र असन्तोष, वैमनस्य, विद्वेष और विद्रोह फैल जाते हैं। आधुनिक युग में विज्ञान की विलक्षण उन्नति ने जिस सभ्यता की सृष्टि की है उसमें क्या मनुष्यों की लोलुपता का अन्त हुआ है, उसमें क्या मनुष्यों की कुप्रवृत्तियों का ह्रास हुआ है,

उसमें क्या वासनाओं का दमन हुआ है? उससे तो जीवन की समस्याएँ उग्र ही होती जा रही हैं।

जीवन संग्राम नहीं है, वह लीलामय की लीला है। जो सच्चिदानन्द-स्वरूप हैं वे स्वेच्छा से एक से अनेक हुए हैं। यह सारी सृष्टि उसी मायामय की माया है। यहाँ विद्वेष मिथ्या है, प्रेम सत्य है। हम बहिर्जगत् के वैपरीत्य को ही क्यों स्वीकार करें, हम अन्तर्जगत् की एकता को क्यों नहीं मानते? बहिर्जगत् में यातना है, इसी लिए अन्तर्जगत् में इतनी करुणा है। बहिर्जगत् में हिंसा है, इसी लिए अन्तर्जगत् में प्रेम है, दया है, सहानुभूति है। जिस दिन प्रेम, अहिंसा और सत्य के आधार पर सभ्यता की नव सृष्टि होगी उस दिन सभी वैषम्यों और सभी वैपरीत्यों को स्वीकार कर हम लोग आत्म-विजय में ही अपने जीवन की चरम सफलता देखेंगे। कुञ्जविहारी का विद्रोह आधुनिक तरुण-समाज का विद्रोह है। संसार के विप्लव ने उनके भी हृदय में विप्लव ला दिया है। वे सर्वत्र विध्वंस ही देख रहे हैं और उसी में वे नव-निर्माण की आशा कर रहे हैं।

कुञ्जविहारी तो अब नहीं रहा। यदि वह रहता तो न जाने क्या करता। सम्भव है, वह कोई बड़ा काम कर जाता। यह भी सम्भव है कि स्थिति की प्रतिकूलता होने पर वह कोई भी काम न करता। पर इसमें सन्देह नहीं कि उसमें असाधारण योग्यता थी, उसमें कवित्व-शक्ति थी, उसमें सृजन-शक्ति थी। मुझे दुःख यही है कि उसके इन गुणों का विकास नहीं हुआ। वह सब लोगों की सारी आशाओं को नष्ट कर अग्नि की एक ज्वाला की तरह क्षण भर प्रदीप्त होकर अपने आप विलीन हो गया।

——

१ युग-विधाता युवक

युग-विधाता युवक, कर आडम्बरों का दर्प-मर्दन।

नेत्र तेरे खुल चुके हैं,
पाँव तेरे क्यों रुके हैं?

मन-विमुख! क्यों अप्रिय पथ पर पलक-द्वय तेरे झुके हैं?
द्वन्द्व तज, निज गति बदल दे, उठा ले अब झुकी गर्दन।
युवक, बन निर्भीक, कर आडम्बरों का दर्प-मर्दन॥

जीभ तेरी जो पकड़ ले,
पगों को तेरे जकड़ ले,

मुक्त तेरे प्रगति पथ पर, जो शिला की भाँति उड़ ले
'हित' नहीं, वह 'दमन' है—है 'दम्भ' वह कैसा बड़प्पन!
हो युवक स्वाधीन, कर आडम्बरों का दर्प-मर्दन॥

शृंखलाओं से कसा है,
बंधनों में तू फँसा है,

सच बता, एकान्त में तू खिलखिलाकर कब हँसा है?
शून्य में जलमग्न कर, निःश्वास का मत कर विसर्जन।
गरज कर अब युवक, कर आडम्बरों का दर्प-मर्दन॥

हँस रहे हैं 'अंध' तुझ पर,
लाद कर प्रतिबन्ध तुझ पर,

कर रहे दंशन तुझे वृश्चिक-हितैषी विष-त्रमन कर।
बड़प्पन का ढोंग तुझ पर कर रहा है दमन-शासन।
युवक बन स्वच्छन्द, कर आडम्बरों का दर्प-मर्दन॥

युवक-वीर! मचा तहलका।
दलन कर दे रूढ़ि-दल का।

द्रोह की हुंकार भर कर, कर हृदय का भार हलका।
कर पुनर्निर्माण धर्म-समाज का; युग-विधाता बन।
युग-विधाता युवक, कर आडम्बरों का दर्प-मर्दन॥

२ अपना असली वेश छिपाकर रखता हूँ

अब दुनिया से मैं अपना असली वेश छिपाकर रखता हूँ।

मैंने विनीत शब्दों में जब
अभिव्यक्त किया अपना मतलब,
सबने मेरा परिहास किया,
मुझको जग ने समझा ही कब ?
अब बदल गई मेरी भाषा,
बदली जीवन की परिभाषा;

अपने मन में ही, मैं अपना संदेश छिपाकर रखता हूँ !
अब दुनिया से मैं अपना असली वेश छिपाकर रखता हूँ।।

दुनिया का नेम निबाहा जब
दुनिया ने मुझको चाहा तब,
जब मैं जग के प्रतिकूल हुआ,
जग की आँखों में शूल हुआ,
है द्रोह आज मुझको जग से।
है द्वेष मुझे जग के मग से।

पर, मैं अपना विद्रोह और विद्वेष छिपाकर रखता हूँ।
अब दुनिया से मैं अपना असली वेश छिपाकर रखता हूँ।।

ले अपने सँग अपने प्रियजन,
जा बसूँ वहाँ है जहाँ विजन;—
ऐसा सुन्दर है देश एक,
जिसका खुद मैंने किया सृजन।

पर, गमन वहाँ मेरा निषिद्ध,
वर्जित उसमें मेरा प्रवेश!
कुछ है विशेष शोभा उसकी
है यहीं पास वह दिव्य देश।

सबकी आँखों से मैं अपना वह देश छिपाकर रखता हूँ।
अब दुनिया से मैं अपना असली वेश छिपाकर रखता हूँ।।

३ जीवन का भार ढो रहा हूँ

जीवन का भार ढो रहा हूँ।

जिस जीवन की मानस में मैंने
खींची रुचिर रूप-रेखा,
जिस जीवन की सुंदरता का
मैंने दिन रात स्वप्न देखा,—
उस जीवन को मैं पा न सका!
उस जीवन को अपना न सका।
मन के अपने प्रिय सपने को
अब तक मैं सत्य बना न सका।
जीने की प्रबल चाह थी, पर
जैसा जी चाहा जी न सका।
जीवन से जब-जब ऊब उठा,
मरना चाहा मर भी न सका।

जीवित हूँ; पर जीवित क्या हूँ? जीवन का भार ढो रहा हूँ।
अपने ही लिए आज खुद मैं जीते-जी भार हो रहा हूँ।

जीवन का भार ढो रहा हूँ॥

४ मेरे हृदय-कुंज में

मेरे हृदय-कुंज में तो तुम अब भी फूल रहे हो।

तुम्हें बाग में खिला देख
मन फूला नहीं समाया।
मेरे 'उर का चोर' निकट—
चुपचाप तुम्हारे आया।
दृष्टि तुम्हारी 'उसने' अपनी
ओर युक्ति से खींची।
तुमने ऊपर देखा, उसकी
हुई निगाहें नीची ॥
चोरी के पहले मेरा उर
बन्दी बना तुम्हारा।
बनी तुम्हारी कोमल—
पंखुरियाँ ही निष्ठुर कारा।

× × ×

रज-रस-सौरभ पाने को
मैं पास तुम्हारे आया ।
मैं क्या आया ? रूप तुम्हारा
मुझे खींच कर लाया।
जी भर निर्निमेष नेत्रों से
तुमको निरख न पाया।
चुपके चुपके स्वयं तुम्हीं ने
मेरा हृदय चुराया !!

तीखे काँटों से प्रतिक्षण अब मुझको हूल रहे हो।
मेरे हृदय-कुंज में तुम हँस-हँस कर फूल रहे हो ॥

× × ×

मधु का प्यासा मधुप तुम्हारे
पास चाव से पहुँचा।
अपना एक अभाव मिटाने
भक्ति-भाव से पहुँचा।
कंपित स्वर से गा, उसने
अंतर का राग सुनाया।
खोकर अपनापन उसने
तुमको पल भर अपनाया।
मर्माहत वह हुआ, तुम्हें—
जब भी देखा मुरझाया।
तुम्हें बाग में खिला देख,
वह फूला नहीं समाया।

तुम्हें न क्षण भर भूला जो तुम उसको भूल रहे हो।
मेरे हृदय-कुंज में तुम अनजाने फूल रहे हो॥

× × ×

भूल हुई मुझसे ही, भ्रमित
हुआ मैं, सब कुछ भूला।
लख लावण्य-लास, मेरा
उर-भ्रमर गर्व से फूला।
दिन बीता, सन्ध्या आ पहुँची,
अंधकार घिर आया।
नीड़ों में रख सोये, जग में
सन्नाटा-सा छाया।
नभ अवनी मिल एक हुए
इस नीरव सूनेपन में।

छिपा लिया नलिनी ने अलि को
अपने आलिंगन में।
दीप-शिखा का चुम्बन करने
शलभ हर्ष से झूमा।
म्लान कुमुदिनी के अधरों को
शशि-किरणों ने चूमा।
तरु से लिपटी हुई लता ने
ली अलसित अँगड़ाई।
बहा समीर, हिले पल्लव-दल
गूँज उठी अमराई।

× × ×

गमकी मादक गंध बाग में
फैला धवल उजेला।
हुआ मधुप मधुमत्त, फूल को
पाकर आज अकेला।
दिशि दिशि में खिल उठी चाँदनी
देख प्रणय की वेला।
बड़ी देर तक मधुप सुमन से
आँख-मिचौनी खेला।
अधर-अधर से, गाल-गाल से
मिली आँख से आँखें।
फैली शत-शत स्वर्ग लूटने
आज भ्रमर की पाँखें॥

× × ×

देख मधुप को तारे नभ में
मन ही मन मुसकाये

थिरका पवन, व्यंग की ध्वनि से
गूँजी दशों दिशायें।

× × ×

फूल रहा है फूल बाग में
अब भी तो हँस-हँस कर
कंटक से बिंध तड़प रहा है
भ्रमर धूल में फँसकर।

× × ×

फूल! खोजती हैं तुमको ही
मेरी तृषित निगाहें।
तुमसे मिलने को व्याकुल हैं
मेरी भूखी बाँहें॥
पूरी होने को अधीर हैं
उर की घायल चाहें।
भीतर जलता ही रहता हूँ
भरकर शीतल आहें॥
आकर्षण के काँटों से तुम
बेध रहे प्रतिपल हो।
मेरे सुन्दर फूल! आज तुम
आँखों से ओझल हो।

तो भी मेरी आँखों में तुम हरदम झूल रहे हो।
मेरे हृदय-कुंज में तो तुम अब भी फूल रहे हो॥

५ तुम्हारी स्मृति में काटी रात

इस एकांत शांत वेला में
मुझे अकेला पाकर,
कहाँ चले तुम चुपके चुपके
मेरी नींद चुरा कर ?
सोने भी दो, देखो बीत चली है आधी रात।

स्नेह जगाकर छिपा लिया
क्यों तुमने सुन्दर दीप ?
दूर हुए आँखों से क्यों तुम
आकर हृदय समीप ?
तुम्हें बिना देखे न मुँदेंगे मेरे दृग-जलजात।

किसने आज मिटाया
रजनी का भी रजत सुहाग,
नभ के झिलमिल नेत्रों से
क्यों बरस रही है आग ?
वातायन से देख दग्ध होता है मेरा गात।

निद्रा की समाधि में शव-सा
सोया है संसार।
बैठा हूँ मैं सुलगा कर
उर में शत-शत अंगार।
पलकों के भीतर ही मेरी सूख गई बरसात।

झींगुर की ध्वनि झंकृत करती
है, दिशि-दिशि का मौन।

मेरे स्वप्न छीनकर मुझको—
छेड़ रहा है कौन ?
हिला रहा है कौन सुप्त वृक्षों के तन्द्रिल पात ?

× × × ×

अब तक अरे, न लौटा मेरी—
आँखों का उजियाला ।
जलती रही रात भर
अन्तस्तल में कोई ज्वाला ।
अग्नि उगलता फिर आ पहुँचा, देखो अरुण प्रभात ।

तुम्हारी स्मृति में काटी रात ।।

६ साथी के प्रति

साथ तुम्हारा छूट न जाये।

पथ-पत्थर की ठोकर खाकर,
बीच राह में गिर जाऊँगा।
छोड़ मुझे बढ़ जाओगे तुम,
मैं एकाकी चिल्लाऊँगा।
हाथ तुम्हारा मैं क्यों पकड़ूँ?
हाथ तुम्हारा छूट न जाये।
साथ तुम्हारा छूट न जाये॥

पकड़ो मेरा हाथ स्वयं तुम
फिर मुझको कुछ डर न रहेगा।
सोचोगे तुम—'इसे छोड़ने से—
दिल इसका टूट न जाये।'
साथ तुम्हारा छूट न जाये॥

७ एकमात्र आधार तुम्हीं हो

मेरे निराधार जीवन के,
एकमात्र आधार तुम्हीं हो।

रहा न मेरा एक सहारा,
फिरा जगत में मारा मारा,
शांति-प्राप्ति के हर प्रयत्न में
मैं अशांत हो होकर हारा।

मेरे हारे हुए हृदय के,
एक विजय उपहार तुम्हीं हो।
मेरे निराधार जीवन के,
एकमात्र आधार तुम्हीं हो॥

किसने मुझे नहीं ठुकराया?
किससे क्या माँगा! क्या पाया?
खो सबका विश्वास अंत में,
शरण तुम्हारी हूँ मैं आया।

तुमने मेरे आँसू पोंछे,
करुणा के आगार तुम्हीं हो।
मेरे निराधार जीवन के,
एकमात्र आधार तुम्हीं हो॥

८ मिट गया दीपक

मिट गया दीपक स्वयं, तम को मिटाकर।

तिमिर का संहार करने
के लिए आराधना-रत,
रात भर जलता रहा, ले
अलौकिक आलोक का व्रत।
जिया जब तक, वह निरंतर—
था तिमिर का नाश करता;
शीश पर रखकर शिखा,
ऋषि-सदृश रहा प्रकाश करता।

बुझ गया सहसा, दिवस की सिद्धि पाकर।
मिट गया दीपक स्वयं तम को मिटाकर॥

९ खो गई तिमिर में छाया

खो गई तिमिर में छाया—
निराकार के अंचल में उसका आकार समाया।
खो गई तिमिर में छाया।

दिन भर की तरु तले समाधि—
लगाकर घोर तपस्या।
सुलझाती वह रही अकेली
अपनी गूढ़ समस्या।
ले संन्यास जगत से,
बसकर गिरि-गह्वर में, वन में।
रही साधना-रत प्रतिक्षण
हो निमग्न आराधन में।

मिली सिद्धि संध्या की, लुप्त हो गई उसकी काया।
निःशेष हो गई माया।

निराकार के अंचल में उसका आकार समाया।
खो गई तिमिर में छाया।

१० मौन रहकर बोलता हूँ

अखिल सृष्टि प्रपंच से मैं मौन होकर बोलता हूँ।

गगन, ग्रह, नक्षत्र चारों ओर मेरे घूमते हैं।
अहर्निशि नत शीश रवि-शशि चरण मेरे चूमते हैं।
कोटि पारावार नित्य पखारते हैं पाँव मेरे।
उच्च गिरि गिर रहे मेरे पैर पर संध्या-सवेरे।

स्थूल विश्व-शरीर के मैं सूक्ष्म प्राण टटोलता हूँ।
अखिल सृष्टि प्रपंच से मैं मौन होकर बोलता हूँ॥

कोटि कंठों से ध्वनित हो रही मेरी अमर वाणी।
एक अंतःकरण में हो रहे स्पंदित कोटि प्राणी।
पाणि में रख विश्व-वीणा, मौन होकर गा रहा हूँ।
छेड़ अंतर तार जग के, स्वर अनन्त सजा रहा हूँ।

विश्व के संगीत-सागर में सुधा-रस घोलता हूँ।
अखिल सृष्टि प्रपंच से मैं मौन होकर घोलता हूँ।

११ होगा प्रियतम से प्रथम मिलन

होगा प्रियतम से प्रथम मिलन।
ज्योत्स्ना का आज खिला यौवन,
ज्योतित तन, आलोकित आनन,
उल्लसित अधर, उत्फुल्ल वदन,
प्रिय का है पंथ निहार रही
वह खोल असंख्य रजत-लोचन।
होगा प्रियतम से प्रथम मिलन !!

है गालों पर लावण्य-लास,
होठों पर धवल हुलास-हास,
मुख पर है स्निग्ध विभा-विलास,
कर रही अकेली मूक प्रतीक्षा
प्रियतम की अपलक लोचन।
होगा प्रियतम से प्रथम मिलन !!

निर्मल जल में वह लगातार—
है रूप रही अपना निहार,
है निरख रही निज अलंकार,
निर्जन वन उपवन में प्रिय का
करती वह नीरव आवाहन।
होगा प्रियतम से प्रथम मिलन !!

है मिलन घड़ी आनेवाली
रख किरणों में सेंदुर लाली—
निकलेगा तरुण अंशुमाली!
निज स्वर्ण-करों से ज्योत्स्ना को
कर लेगा आकर आलिंगन।
होगा प्रियतम से प्रथम मिलन!!

होगा ज्योत्स्ना का भाल लाल!
होंगे लज्जा से गाल लाल!
मुँद जायेंगे लज्जित लोचन!
अरुणाभ हो उठेगा आनन।
ज्योत्स्ना बाला, बन लाजवती
होगी लज्जा से म्लान वदन।
होगा रवि से जब प्रथम मिलन!!

१२ अवसाद लिये संध्या आई

अवसाद लिये संध्या आई।
आशा की पगध्वनि करण-मधुर,
सुन-सुन आनंद स्पंदित उर—
क्षण क्षण के आलोकित पथ पर
दृग पलक बिछा, होगा आतुर।
था मूक प्रतीक्षा-निरत, दृष्टि
उसकी क्यों सहसा पथराई?
अवसाद लिये संध्या आई!

डूबा नभ का वैभव, पश्चिम की
मिटी राग-रंजित लाली!
मुँद गये श्वेत लोचन सर के
लख शोक-राशि काली काली।
दिन ने करवट बदली, निशि ने ली—
धीरे-धीरे अँगड़ाई।
अवसाद लिये संध्या आई!

लौटे इच्छा के श्रांत विहग,
निष्फल निरुपाय, निराश नयन।
क्यों मचा करुण कलरव मन में?
क्यों हृदय-नीड़ में यह क्रन्दन?

तम घिर आया, क्यों मेरे
चारों ओर उदासी छाई ?
अवसाद लिये संध्या आई।

सोने को सुख की नींद,
क्लांत बंदी विनोद में मस्त हुए।
मेरे दिन के सुनहले स्वप्न
रवि-किरणों के सँग अस्त हुए !
क्यों जाग उठी सोई पीड़ा
तजकर मानस की गहराई ?
अवसाद लिये संध्या आई !

ढँक गई कालिमा से मेरे
अंतस्तल की प्रत्येक दिशा !
ले क्षीण चन्द्र-किरणें स्मृतियों की
आई मेरी निविड़ निशा !—
पा जिनका स्पर्श, शांत हृत्सर की
सुप्त वेदना मुस्काई !
अवसाद लिये संध्या आई।

विस्मृत सुख-दुख के तारों से,
सज गया शून्य मन का आँगन !
ले अतीत की आभा, आँखों के
आगे खिंच-सा गया गगन !

छिप गया दृगों से वर्तमान
बह चली व्यथा की पुरवाई।
अवसाद लिये संध्या आई!

पिछले जीवन की सुधि आई,
आ गईं याद पिछली बातें।
पिछले सुख-दुख, पिछली घटनाएँ,
पिछले दिन, पिछली रातें।
बीते दिन की—विस्मृत घड़ियों की—
याद लिये संध्या आई।
अवसाद लिये संध्या आई!

१३ ये लोचन भर आते हैं

ध्यान तुम्हारा आते ही ये लोचन भर आते हैं!

छा जाती हो बन बूँद बूँद!
मैं तुम्हें रूँधता नयन मूँद!
तुम पलकों में चुपचाप उतर—
आती हो गोदी पर गिर कर!

खुल पड़ते दृग तुम्हें देखने, देख न पर पाते हैं।
ध्यान तुम्हारा आते ही ये लोचन भर आते हैं!

बन आँसू के अवदान फूल,
आँखों में तुम हो रही भूल।
पर अंतर को (बन तीक्ष्ण भूल)
हो बेध रही तुम (मुझे भूल)

मिलनातुर उर रोता है जब आँसू झर जाते हैं।
ध्यान तुम्हारा आते ही ये लोचन भर आते हैं।

१४ मेरे भी अश्रु बहे आज

मेरे भी अश्रु बहे आज !
थे किंकर्तव्य-विमूढ़ !
निद्रा की भाँति गूढ़ !
हो स्वप्नों से चंचल।
बिखरा, श्यामल अंचल !
बादल के दल के दल—
आँसू-से हुए सजल !

शुभ्र, श्वेत व्योम से बरस आज।
मेरे भी अश्रु बहे आज !

सुधि तब की, स्मृति अब की।
घटनाएँ कब कब की !
कितने संवाद लिये,
कब-कब की याद लिये,
मिलने तू आई थी !
पलकों पर छाई थी !

गई, मुझे बिना एक शब्द कहे आज।
मेरे भी अश्रु बहे आज !

कल तक जो अलग रहे।
ताप, कष्ट, क्लेश सहे।
दूर अब वियोग-विरह।
मिलते अब वे रह-रह !

नभ अवनी आलिंगन।
लख यह करुणार्द्र मिलन—

मेरे भी आर्द्र नयन तरस रहे आज।
मेरे भी अश्रु बहे आज!

आई तू बहने को?
अथवा कुछ कहने को?
बिना मिले चली गई!
क्या मुझसे छली गई?
मुझे मुदित रहने दे।
विरह-व्यथा सहने दे!

मिलन-सुख न कल बिना वियोग सहे आज।
मेरे भी अश्रु बहे आज!

१५ लज्जित उषा बाला

केशों पर गुँथा हुआ रत्नहार—
किरणों के कर से सत्वर उतार—
पीछे लटका श्यामल तम-कुंतल—
सरका आनन से निशि का अंचल,

वस्त्र बदल, लिये अरुण वेश,
प्रियतम का पाने सँदेश,—
सज्जित उषा बाला !
लज्जित उषा बाला !

लगा भानु की बेंदी भाल पर,
लज्जा लाली लेकर गाल पर,
उभरे वक्षस्थल को ढाँककर
प्राची-वातायन से झाँककर,
सरिता के दर्पण में लगातार—
अपना सौंदर्य है रही निहार !!

मानस में खिंच गया किसी का चित्र,
पलकें करने लगीं रजत शृंगार।

हुआ किससे संभाषण मौन ?
हुईं किससे ये आँखें चार ?

हृदय में उतर गई यह कौन ?
दृगों में हुई कौन साकार ?

हुआ मुखरित मेरा एकान्त,
मूक यह मिलन ! मौन अभिसार।

उठाकर अंतस्तल में हूक
कौन कर रही मुझे है प्यार ?

बेध रही उर को शूलों से कौन
नयनों को पहिना फूलों का हार ?

मानस में खिंच गया किसी का चित्र,
पलकें करने लगीं रजत शृंगार !!

१६ तुम भी क्यों मुझसे रूठ चले ?

तुम भी क्यों मुझसे रूठ चले ?
अभिलाषा की बाती सुलगा,
आशा की उज्ज्वल ज्योति जगा,
आँखें भर भर आह्वान किया—
व्याकुलता की लौ लगन लगा,
मेरे ये अपलक दीप प्रतीक्षा-पथ में रातों रात जले।

सुख में मोती बनकर आये,
पर दुख लख दृग में भर आये।
मेरे दुख की घड़ियों में तुम
दौड़े दौड़े बाहर आये,
करुणा का मौन-निमंत्रण पाकर बूँद-बूँद तुम बह निकले।

मेरे सुख-दुख के तरल मित्र,
ओ सजल, सलोने, सरल मित्र!
मेरे उर की प्रच्छन्न वेदना के
ओ निर्मल आर्द्र चित्र!
मेरे एकांत क्षणों के ओ साथी! तुम भी क्यों सूख चले ?
तुम भी क्यों मुझसे रूठ चले ?

१७ आये दर्शन हेतु तुम्हारे

आये दर्शन-हेतु तुम्हारे
विकल वियोग विषाद लिये !!

अपलक चितवन हृदय हमारा
प्रियतम, खोल नयन-वातायन,—
बिछा प्रतीक्षा-पथ पर पलकें,
तुम्हें निरख करता है क्रन्दन !
जाते हैं निःश्वास तुम्हारे पास
शोक - संवाद लिये।
आते हैं ये श्वास मिलन का
मंजुल आशावाद लिये।
आये दर्शन-हेतु तुम्हारे
विकल वियोग विषाद लिये !!

दृग - द्वारों पर दृष्टि-दीप ले,
तजकर शून्य शरीर-सदन !
सुन पग-ध्वनि, मन मौन हमारा—
तुम्हें कर रहा आवाहन
मिलने से पहिले ही प्रियतम !
उत्कंठा उन्माद लिये
मिलता मन मन ही मन तुमसे
मिलन घड़ी की याद लिये !
आये दर्शन-हेतु तुम्हारे
विकल वियोग विषाद लिये !!
मन-कानन के पार्श्व भाग में
हृदय-नदी के तट पर स्थित—

एकाकी है खड़ा देह-द्रुम,
मिलन के लिए लालायित!
नेत्र-कुसुम की ओस-वृष्टि से
कर मिलन स्थल का सिंचन!
बिछा बाहु - शाखाओं से
शीतल छाया का शुचि आसन।
रोम-पुंज-पल्लव हिल-हिलकर
झुक-झुककर अंगुलि-किसलय,—
इंगित से अभिसार-हेतु
तुमको हैं बुला रहे निर्भय!
शुभ्र निशा है! निर्जन वन है!
(नदी जलधि की याद लिये—
है बह रही मिलन - विह्वल हो,
व्याकुल कल कल नाद लिये)
हम भी मंगल - मिलन घड़ी में,
मिलने का आह्लाद लिये!
आये दर्शन-हेतु तुम्हारे
विकल वियोग विषाद लिये!!

१८ दुख के दोस्त हमारे।

दुख के दोस्त हमारे।

साथी, सम्बन्धी, स्वजन, सगे—
सबके द्वारा हम गये ठगे।
सब हमें अकेले छोड़ भगे।
हम डूब रहे थे, वे थे खड़े किनारे
दुख के दोस्त हमारे॥

आनेवाला था जब संकट,
थे दूर सभी, थे तुम्हीं निकट,
हम सुन न सके पग की आहट,
तुम पास खड़े करते थे हमें इशारे!
दुख के दोस्त हमारे॥

तुम बिना बुलाये, बिना कहे,
प्रिय मित्र हमारे साथ रहे।
जब जब आँखों से अश्रु बहे,
बन गये हमारी आँखों के तुम तारे।
दुख के दोस्त हमारे॥

औरों से पाया सुख हमने,
औरों से पाया दुख हमने,
पर तुमको तो सम्मुख हमने—
दुख में पाया जब विमुख हुए जन सारे!
दुख के दोस्त हमारे॥

१९ किसलिए न वापस आये ?

अब तक, बीती आधी रात ?
किसलिए न वापस आये अब तक, बीती आधी रात ?

उठ रही लहर, उठ रहा ज्वार,
बह रहा विकट गति से बयार,
मुँह बाये आया अंधकार,

बिना तुम्हारे काँप रहे थर-थर प्राणों के पात।
किसलिए न वापस आये अब तक, बीती आधी रात ?

इस निशीथ में तुम भी रहते,
हम दोनों मिल विपत्ति सहते,
निशि कट जाती सुनते-कहते—

हैं गूँज रहे मृदु गीत तुम्हारे, गूँज रही मृदु बात।
किसलिए न वापस आये अब तक, बीती आधी रात ?

तुम क्यों मेरे उर से निकले ?
तुम मुझे छोड़कर कहाँ चले ?
स्मृति में आँसू चुपचाप ढले—

हैं मुँदे नयन आई न नींद, सो गये अन्य जलजात।
किसलिए न वापस आये अब तक, बीती आधी रात ?

२० मदिरा के सम्बन्ध में

(कवियों को सम्बोधित)

[मध्यप्रान्तीय कवि-सम्मेलन, रायपुर, में पठित जहाँ मद्य-निषेध की सर्वोच्च कविता पर पुरस्कार दिया जानेवाला था।]

(१)

"मदिरा विष है, इससे बढ़कर
जग का कोई अभिशाप नहीं!
मदिरा पीने से बढ़कर
इस दुनियाँ में कोई पाप नहीं!

(२)

"मदिरा से होता सर्वनाश,
मदिरा से होता धर्म नष्ट!
यह दुर्गुण, दोष, दुर्व्यसन है,
इससे होता आचरण भ्रष्ट!

(३)

"तन-नाशक है, धन-नाशक है,
यह घर-घालक है, घातक है।
जो लोक और परलोक बिगाड़े,
मद्यपान वह पातक है!

(४)

"मदिरा पीकर अपयश मत लो,
कलुषित अपना मत करो नाम।
मदिरा न छुओ, मदिरा न पियो,
मदिरा छूना, पीना हराम।

(५)

"मदिरा पीना है महापाप,
धर्मों ने शिक्षा दी हमको।
मदिरा पीना है घोर पाप,"
ऋषियों ने दीक्षा दी हमको।

(६)

है वेद, कुरान, बाइबिल के—
पृष्ठों में साफ लिखा ऐसा—
"जग में जघन्य दुर्गुण न दूसरा
है मदिरा सेवन जैसा।"

(७)

सब धर्मों के आचार्य-प्रवर
करते आये कब से प्रचार—
"दुनियावालो! मदिरा तज दो,
कर दो मदिरा का बहिष्कार॥"

(८)

सदियाँ बीतीं, युग बीत गये,
समझाकर हारे साधु संत।
मदिरा-सेवन के दुर्गुण का,
अब तक न जगत में हुआ अंत॥

(९)

जिस दुर्गुण का मूलोच्छेदन,
ये धर्म-धुरंधर कर न सके,
जिस दुर्गुण का विनाश करने में—
धर्मग्रन्थ के वचन थके॥

(१०)

उपदेशक, महापुरुष, शिक्षकगण,
कोशिश करके हार गये।
यह दुर्गुण जग से गया नहीं,
उनके प्रयत्न बेकार गये॥

(११)

धर्मों की दृढ़ दैवी ताकत,
जो किला न अब तक तोड़ सकी,
ऋषियों की आत्मिक दिव्य शक्ति,
जो शिला न अब तक फोड़ सकी॥

(१२)

वह दुर्गुण नष्ट भ्रष्ट करने,
वह किला तोड़ने का प्रण कर,
उस दुर्गुण से लोहा लेने,
वह शिला फोड़ने का प्रण कर॥

(१३)

कवियो! यह दोष मिटाने का,
जो तुमने किया कठिन निश्चय,
वह निश्चय वंदनीय जिसमें,
परहित का छिपा पुण्य-आशय॥

(१४)

बोलेगा मदिरासेवी जग,
बनकर तुम सबका आभारी—
"उपकारी कवियो! धन्य धन्य,
तुम पुरस्कार के अधिकारी॥"

(१५)

पर कवियो, कार्य तुम्हारा यह,
है व्यर्थ निरर्थक खेदजनक।
कैसे हो गई सवार, तुम्हारे सिर—
पर इतनी बड़ी सनक?

(१६)

शिक्षा से दोष दूर करने का,
ख्याल अरे! है शुद्ध बहम।
कवियो! उन बदनसीब मदिरा—
पीनेवालों पर करो रहम॥

(१७)

मत छेड़ो उन बेचारों को,
उनको मत नाहक तंग करो।
क्षण भर की मस्ती मिली उन्हें,
इस मस्ती को मत भंग करो।

(१८)

कष्टों की क्रूर कैद से उनको,
मिला अभी तो छुटकारा।
कर दिया शुरू तुमने उनके,
सम्मुख उपदेशों का नारा॥

(१९)

कब से वे यह सुनते आये,
"मदिरा न पियो, मदिरा न पियो।"
पर जूँ न कभी रेंगी उनके,
कानों में सुनकर यह कवियो!

(२०)

शिक्षा देनेवालों ने, शिक्षा देने—
में की कसर नहीं;
पर क्यों न पड़ा इस शिक्षा का
उन पर रत्ती भर असर नहीं ?

(२१)

मदिरा-निषेध के उपदेशों का,
जितना अधिक प्रचार बढ़ा—
मदिरा सेवन के दुर्गुण का,
उतना ही अधिक प्रसार बढ़ा।

(२२)

यह दोष हटाने में सारे,
उपदेश अरे! असमर्थ हुए।
उलटे इन उपदेशों से अब तक,
क्या क्या नहीं अनर्थ हुए।

× × ×

(२३)

"इससे तो स्वास्थ्य बिगड़ता है,
यह चीज बहुत ही है खराब।
"इससे बल और वीर्य घटता,
मत पियो अजी ऐसी शराब।"

(२४)

मदिरा पीनेवालों को,
ऐसी शिक्षा देते हो कवियो!

उनके उपदेशों की ऐसी—
ही भिक्षा देते हो कवियो!

(२५)

इतने नासमझ नहीं हैं वे,
यह ज्ञान उन्हें मत सिखलाओ।
उनके न नेत्र फूटे, मदिरा के—
दोष उन्हें मत दिखलाओ।

(२६)

मदिरा पीनेवालों में भी,
ऐसे विद्वान विलक्षण हैं,
जो ब्रह्म और माया के तुमको—
समझा सकते लक्षण हैं।

(२७)

जो 'नित्य-अनित्य', 'सत्य-मिथ्या'—
दर्शन के ऐसे गहन विषय,
तुमको ऐसा समझा देंगे—हों
दूर तुम्हारे सब संशय।

(२८)

मालूम जिन्हें हैं वेद-शास्त्र,
श्रुति-स्मृति-पुराण के तत्त्व गूढ़,
मदिरा की मीमांसा तुमसे—
सीखें? हैं वे इतने न मूढ़!

(२९)

शिक्षा न उन्हें दो, उन्हें—
तुम्हारी शिक्षा की दरकार नहीं।

भिक्षा न उन्हें दो, उन्हें—
तुम्हारी भिक्षा की दरकार नहीं।

(३०)

तुम कहते हो, "मदिरा पीनेवाले,
होते कुमार्गगामी।"
मदिरा जो पीते नहीं, कहो,
वे हैं क्या सब सुमार्गगामी?

(३१)

मदिरा पीनेवाले ही क्या,
होते हैं पापी दोषयुक्त?
मदिरा न कभी छूते वे क्या
हैं पापों से सर्वथा मुक्त?

(३२)

उनके मन में है पाप भरा,
उनके भी हैं गंदे विचार।
वह मलिन वासना का लोलुप,
कर सकता है वह दुराचार।

(३३)

वह अवसर खोजा करता है,
पर मिलता नहीं उसे अवसर।
है ख्याल उसे निज इज्जत का,
बदनामी का उसको है डर।

(३४)

वह अपनी हबिश बुझाने के—
बाँधा करता है मनसूबे।

क्या क्या कुकर्म उसने न किये,
निज ख्यालों में डूबे डूबे ?

(३५)

कितनों से उसने भोग किया,
कितनों का किया सतीत्व भ्रष्ट ?
कितनी कुमारियों की पवित्रता,
करता है वह रोज नष्ट ?—

(३६)

ऐसा पाखंडी भी जिसका मन—
है पापों से सना हुआ,
वह कोटि कोटि पापी लोगों का,
उपदेशक है बना हुआ !

(३७)

पर, पाप-लिप्त, दुष्कर्म विरत,
पतितों का बना सुधारक है।
दुनियाँ भर के मदिरा पीनेवालों
का वह उद्धारक है।

(३८)

क्या दुराचरण उसने न किये,
दुनियावालों की आँख बचा ?
पर बाहर सदाचरण का,
आडंबर उसने खूब रचा।

(३९)

अपयश के भय से शायद,
उसने किया नहीं मदिरा-सेवन।

मदिरा-सेवन के दुर्गुण का,
वह बन बैठा कट्टर दुश्मन।

(४०)

मदिरा पीनेवालों से उसने,
समझा अपने को महान।
मदिरा न कभी भी छूने का,
हो गया उसे मिथ्याभिमान।

(४१)

उसके मन में हैं भरे हुए,
दुनिया भर के गंदे विकार।
उसे गर्व है, मदिरा का—
वह हुआ नहीं अब तक शिकार।

(४२)

बस मदिरा पीने के खिलाफ,
कर दिया शुरू उसने प्रलाप—
"कर दो मदिरा का बहिष्कार,
मदिरा पीना है महापाप।"

(४३)

सुनकर सब बोले "वाह वाह!
क्या खूब! धन्य हो उपदेशक।
तुम बिलकुल ठीक कह रहे हो,
तुम कहते हो उसमें क्या शक।"

(४४)

सुनकर इन तारीफों को,
उपदेशक घमण्ड से फूल गया।

अपने दुर्गुण-दोषों-ऐबों को—
क्षण भर में वह भूल गया।

× × ×

(४५)

उपदेशक ! इन उपदेशों से,
माना कि तुम्हारा नाम हुआ।
पर इन थोथे उपदेशों का—
वास्तव में क्या परिणाम हुआ ?

(४६)

मदिरा पीना रुक गया नहीं,
उठ गई न दुनिया से मदिरा।
तुमने समाज से मदिरा—
पीनेवालों को ही दिया गिरा।

(४७)

मदिरा पीने से भी बढ़कर,
तुममें हैं भरे हुए दुर्गुण।
पर उनको तुमने ढाँक लिया,
तुम बड़े चतुर, तुम बड़े निपुण।

(४८)

मदिरा पीनेवालों के हित के—
लिए वाह क्या काम किया !
उसको जग में, समाज में, घर में
बुरी तरह बदनाम किया।

(४९)

मदिरा के बहिष्कार के बदले,
किया उन्हीं का बहिष्कार।

उनके प्रति तुमने किया द्वेष का—
तिरस्कार का ही प्रचार।

(५०)

बो दिये घृणा के बीज आज,
तुमने उनके खिलाफ घर घर।
उनके खिलाफ निन्दा का,
तुमने फैलाया सर्वत्र जहर।

(५१)

तुमने मदिरा पीनेवालों के—
लिए वाह! क्या काम किया।
तुमने समाज की आँखों से,
उन बेचारों को गिरा दिया।

(५२)

औरों का ऐब दिखाने को,
तुम ढोंग किसलिए करते हो?
किसलिए दूसरों के उद्धारक,
होने का दम भरते हो?

(५३)

औरों के दोष दूर करने का
है, तुमको अधिकार नहीं।
तुम अपने को देखो तो,
तुममें क्या क्या भरे विकार नहीं।

(५४)

क्या दुर्गुण से तुम हो खाली,
पापों से परे? तथा पवित्र?

क्या तुमने नहीं कुकर्म किये,
क्या हो तुम सचमुच सच्चरित्र ?

(५५)

सौ बार नहीं ! अचरज है तो भी,
सच्चरित्र कहलाते हो।
अपने को सच्चरित्र कहकर,
तुम अपना मन बहलाते हो।

(५६)

तुम औरों के सुधार के बदले,
अपना प्रथम सुधार करो।
यह स्वाँग अरे छोड़ो पहले,
तुम अपना तो उद्धार करो।

× × ×

(५७)

तुमने कौशलपूर्वक ढाँका,
अपने चरित्र का मलिन पृष्ठ।
बन सके इसी से तुम समाज में,
सभ्य, प्रतिष्ठित और शिष्ट।

(५८)

अतिरंजित कर जग को दिखलाया—
सदाचारवाला पहलू।
पर छिपा लिया अपने चरित्र का,
तुमने तो काला पहलू।

(५९)

अपने दुर्गुण दोषों-ऐबों पर,
उज्ज्वल-सा आवरण डाल—

दुनिया का दोष मिटाने निकले,
किया खूब तुमने कमाल।

(६०)

इसका परिणाम हुआ क्या ?
दो भागों में बँटा आज मानव।
कुछ लोग बन गये 'दिव्य देव',
बाकी बन गये क्षुद्र दानव।

(६१)

है 'देव' या कि 'दानव'—
माथे पर, दिया गया, हम सबके लिख,
कुछ का मुख उज्ज्वल हुआ;
पुती कुछ लोगों के मुख पर कालिख।

(६२)

जिसके माथे पर 'देव' लिखा,
उसका चरित्र कलुषित हो कल;
पर वह तो देव बन चुका ! उसका,
सदा रहेगा मुख उज्ज्वल।

(६३)

जो 'दानव' कहा गया, चरित्र,
उसने निज उज्ज्वल कर डाला।
पर दुनिया की आँखों में उसका—
सदा रहेगा मुँह काला।

(६४)

है 'देव' और 'दानव' में,
प्रति क्षण परिवर्तित होता मानव।

था 'दानव' कल—वह देव आज,
जो 'देव' आज—वह कल दानव।

× × ×

(६५)

क्षण भर पहले जो था पापी,
वह अभी-अभी पुण्यात्मा बन—
दुनिया के अखिल पापियों का,
करता है प्रतिक्षण हित-चिन्तन।

(६६)

जग भर के ऐब दूर करने की—
हुई उसे चिन्ता सवार।
बन 'देव' स्वयं, 'दानव' समाज—
का शुरू किया उसने सुधार।

(६७)

ऐसे ही देवों ने मदिरा-
निषेध का छेड़ा आन्दोलन।
मदिरा पीनेवाले 'दानव' का,
सह्य न उनको अधःपतन।

(६८)

मदिरा के पीछे पड़ा हाथ—
धोकर गांधी-सा देव-दूत।
"बापू" के पीछे खड़े हुए,
उनके खद्दर-धारी सपूत।

× × ×

(६९)

मदिरा से होकर बदहवास,
जब वह वेश्यागामी 'गिरीश'—
पहुँचा काली के मंदिर में,
गुरु के चरणों पर रखा शीश।

(७०)

"भगवन! मैंने मदिरा पी,"
वेश्यागमन-सरीखा पाप किया।
यों कह गिरीश ने गुरु के सम्मुख—
रोकर पश्चात्ताप किया।

(७१)

तब परमहंस श्री रामकृष्ण,
बोले गिरीश से हँसकर यों—
"बेटा! क्या बुरा किया तुमने?
तुम होते हो यों व्याकुल क्यों?"

(७२)

यह कह गिरीश के हाथों में,
गुरु ने शराब की दी बोतल।
बोले, "ले बेटा, पी, हँसकर पी,
होता है क्यों व्यर्थ विकल?

(७३)

"ईश्वर ने दी जो भोग्य वस्तु,
उसका हँसकर उपभोग करो।
इसमें क्या अरे बुराई है?
इसके कारण मत शोक करो।"

(७४)

सुन रामकृष्ण की यह वाणी,
यह दिव्य प्रेम से सना वचन—
गद्‌गद होकर गिरीश ने मदिरा—
पी, हो बिलकुल निर्भय मन।

× × ×

(७५)

थे परमहंस श्रीरामकृष्ण भी,
ईश्वर के अवतार एक।
वे ब्रह्मलीन थे उनमें था,
गांधी से भी ज्यादा विवेक॥

(७६)

गांधी के इतना भी क्या उनको,
लोक-त्राण का ज्ञान न था?
क्या उन्हें विश्व-कल्याण-धर्म का,
लेशमात्र भी ध्यान न था?

(७७)

मदिरा-सेवन की उन्हें बुराई,
बोलो नहीं ज्ञात क्या थी।
फिर क्यों गिरीश को अनुमति दी,
सोचो तो जरा बात क्या थी?

(७८)

मदिरा-सेवन की खराबियाँ—
क्या उनको थीं मालूम नहीं?

किसलिए मचाई उनने—
मदिरा-आन्दोलन की धूम नहीं ?

(७६)

इसलिए कि था यह विदित उन्हें,
"शिक्षा से हुआ सुधार नहीं।
केवल उपदेश सुनाने से,
हो सका विश्व-उद्धार नहीं।"

× × ×

(८०)

कवियो ! मदिरा के दुर्गुण का,
हो करने चले निवारण तुम।
इसके पहले इस दुर्गुण का,
मालूम करो तो 'कारण' तुम।

(८१)

मदिरा पीनेवालों को—
शिक्षा देने का मत कष्ट करो।
वह 'कारण' दूर करो—
अपना तुम समय व्यर्थ मत नष्ट करो।

२१ मैं कहूँ किससे ? कहूँ ही क्यों—
कि क्या है चाह मेरी !

मैं कहूँ किससे ? कहूँ ही क्यों—
कि क्या है चाह मेरी !

मैं जिसे मझधार कहता,
जग उसे ही कूल कहता।
मैं समझता सत्य जिसको,
जग उसे ही भूल कहता।
मानता हूँ, पूर्व प्रचलित
पथों के प्रतिकूल हूँ मैं।
किन्तु कह तो दो, किसी के,
मार्ग में क्या शूल हूँ मैं ?

मैं जिधर जाऊँ उधर जग भी चले चाहा न मैंने।
किन्तु दुनियाँ रोकना क्यों चाहती है राह मेरी ? मैं कहूँ...

चाहता जाना जिधर है,
शौक से जावे उधर जग।
लक्ष्य उसका हो जिधर,
द्रुतगति उधर उसके बढ़ें पग।
"है जगत के लिए हितकर—
या अहितकर कौन सा मग।
किधर उसको तम मिलेगा
किधर उसको ज्योति जगमग ?"—

फिक्र इसकी मैं करूँ, इतना कहाँ अवकाश मुझको।
किसलिए फिर विश्व करता, रात-दिन परवाह मेरी ? मैं कहूँ...

विश्व-पथ का अनुसरण कर,
मैं युगों तक चल चुका हूँ;
और सदियों विश्व के—
ज्वालामुखी में जल चुका हूँ।
अब मुझे लगता जगत का—
हास्य हाहाकार - जैसा।
विश्व का वैभव भवन,
विकराल कारागार - जैसा।
हृदय रह रह कर न जाने, किसलिए चीत्कार करता?
मौन से उठ शून्य में ही, लीन होती आह मेरी। मैं कहूँ...

है तृषा की पूर्ति शत-शत
तृप्ति किन्तु प्रवंचना है।
हृदय पारावार पीकर भी,
मरुस्थल ही बना है।
वासना के गरल से ही,
आज मेरा मन सना है।
और फिर मेरे लिए पीयूष
पीना भी मना है।
पाँव मेरे पाप के ही पंक में अब तक फँसे हैं।
पुण्य पर कब से लगी है, किन्तु मूक निगाह मेरी। मैं कहूँ...

क्या जगत में आज तक,
केवल किये हैं पाप मैंने?
क्या जगत को आज तक,
केवल दिये अभिशाप मैंने?

विश्व-व्याप्त बुराइयों की,
की कहो कब माप मैंने ?
ली लगा निज माथ पर,
पर-अवगुणों की छाप मैंने।
पुण्य मेरे देखने को, विश्व के क्यों नेत्र फूटे ?
छूत लग जाती जगत को, देखकर क्यों छाँह मेरी ? मैं कहूँ...

निज अमर ऐश्वर्य से तो,
आज कोसों दूर हूँ मैं।
प्राप्तिहित नित यत्न भी तो,
कर रहा भरपूर हूँ मैं।
किन्तु जब मिलता न वह,
होता जरा मजबूर हूँ मैं।
विश्व के विषमय नशे में,
विवश होता चूर हूँ मैं।
हृदय क्रन्दन मत सुनूँ, अतएव हँसता खिलखिलाकर।
किन्तु होती प्रज्ज्वलित क्यों, और अन्तर्दाह मेरी ? मैं कहूँ...

लक्ष्य मेरा लोचनों में,
भूलता सन्ध्या - सबेरे।
विघ्न मुँह बाये खड़े हैं,
किन्तु चारों ओर घेरे।
पथ बताते हैं सभी,
लेकिन न चलते साथ मेरे।

खींचते हैं दूसरी ही ओर,
क्यों सब हाथ मेरे।
संकटों की चोट से, निज मार्ग में गिरता अगर मैं;
विश्व कह 'पथभ्रान्त' हँसता, सुन सुदूर कराह मेरी। मैं कहूँ...

इस हितैषी विश्व की अब,
चाहिए मुझको न शिक्षा।
चाहिए मुझको किसी के,
पथ-प्रदर्शन की न भिक्षा।
धैर्य धर, चुप कर रहा हूँ—
उस दिवस की मैं प्रतीक्षा
जान लेगा जब जगत,
मेरे हृद की मौन इच्छा।
अब मुझे आनन्द आता, देख निज उपहास होते।
भार-सा लगता मुझे है, जब कि होती वाह मेरी। मैं कहूँ...

२२ पूछते हो ?

पूछते हो—"आज अधरों पर तुम्हारे हास क्यों है ?"

चाहता है जी जगत की
हलचलों से दूर जाकर—
मैं अकेले बैठ कोई
तरु-तले, एकान्त पाकर—
खूब रोऊँ सर्वथा निश्चिन्त
निस्संकोच होकर !
और अपने हृदय को हलका
करूँ इस भाँति रोकर !!

पर मुझे विपरीत इसके, आज हँसना पड़ रहा है !
खुद नहीं मैं जानता मुझको वृथा उल्लास क्यों है ?
पूछते हो—"आज अधरों पर तुम्हारे हास क्यों है ?"

वेदना से आज मेरा
गान, ओत-प्रोत होकर,—
बह निकलना चाहता है
आँसुओं का स्रोत होकर !
सिसकता रहता व्यथा से
हर समय मेरा हृदय है !
आज मेरी दृष्टि में—
यह विश्व दिखता शोकमय है ।

तुम मुझे हो पूछते—"है हास्य क्यों मुख पर तुम्हारे ?"
पूछता हूँ मैं कि "सारी सृष्टि आज उदास क्यों है ?"
पूछते हो—"आज अधरों पर तुम्हारे हास क्यों है ?"

आ फँसा हूँ क्यों अनिश्चित
उलझनों के व्यूह में मैं ?
क्यों अकेला दीखता हूँ
आज स्वजन-समूह में मैं ?
जब नितान्त असह्य होता
यंत्रणा का भार मेरा;
द्रवित होकर दृगों में
उमड़ता उद्गार मेरा;—

तब गिराकर पलक-द्वय बरबस; विकल हो सोचता हूँ—
'इस सुखद मंगल-घड़ी में विश्व मेरे पास क्यों है ?'
पूछते हो—"आज अधरों पर तुम्हारे हास क्यों है"

नेत्र-सम्मुख निराशा का
सिन्धु लहराता अगम है।
देखता हूँ जिधर, दिखता
उधर मुझको घोर तम है।
जान - सा पड़ता-'प्रकृति का
रुक गया सब कार्य-क्रम है !'
फिर मुझे लगता कि 'क्या यह
सिर्फ मेरा दृष्टि-भ्रम है।'

किन्तु मुझको ज्योति का आभास दिखता ही नहीं जब,—
सोचता हूँ किन्तु फिर-भी चल रहा यह श्वास क्यों है ?
पूछते हो—"आज अधरों पर तुम्हारे हास क्यों है ?"

पथ दिखाऊँ जगत को,
माना न इतना विज्ञ हूँ मैं !
किन्तु अपने मार्ग से
खुद भी नहीं अनभिज्ञ हूँ मैं !
है सुनिश्चित साध्य मेरा,
समझता निज हित-अहित हूँ।
साधना-सन्नद्ध हूँ, पर
साधनों से मैं रहित हूँ !

विश्व जिसकी प्राप्ति को इकदम असंभव मानता है,—
हाँ उसी की प्राप्ति पर मुझको अटल विश्वास क्यों है ?
पूछते हो—"आज अधरों पर तुम्हारे हास क्यों है ?"

उच्च गिरि के शृंग की—
मैं ओर चढ़ता जा रहा हूँ।
दूर निज आदर्श की—
में ओर बढ़ता जा रहा हूँ।
पुनः उठता—पुनः गिरता—
और पड़ता जा रहा हूँ;
मार्ग की कठिनाइयों से
अभय लड़ता जा रहा हूँ !

गिर गया हूँ आज औ' मैं संकटों से घिर गया हूँ;
किन्तु मुझको पग उठाने में न किंचित त्रास क्यों है ?
पूछते हो—"आज अधरों पर तुम्हारे हास क्यों है ?"

देख लो मेरे हृदय के
कलुष की प्रत्येक रेखा।
मैं तुम्हारी कालिमाओं का
लगाऊँगा न लेखा।
मैं चमकते चन्द्रमुख की
छवि न देख, कलंक देखूँ ?
नित प्रकंपित मानसों का
मैं छिपा क्यों पंक देखूँ ?

किन्तु कीच उछालते हैं आज मुझ पर मलिन मानस !
डालता रे चन्द्र, मुझ पर,—वक्र भृकुटि-विलास क्यों है ?
पूछते हो—"आज अधरों पर तुम्हारे हास क्यों है ?"

शान्ति ही के वास्ते तो
व्यग्र और अशान्त हूँ मैं !
सतत श्रम-संघर्ष करते
आज कुछ कुछ श्रान्त हूँ मैं !
क्लांत-तन, उद्विग्न-मन हूँ,
आपदा-आक्रान्त हूँ मैं !
हो गया हूँ आज पथ-विचलित,
नहीं पथ-भ्रांत हूँ मैं !

देख औरों का पतन, मैंने नहीं उँगली उठाई;
किन्तु मेरे पतन का जग कर रहा परिहास क्यों है ?
पूछते हो—"आज अधरों पर तुम्हारे हास क्यों है ?"

२३ मैं ही अनादि, मैं ही अनन्त !

मैं ही अनादि, मैं ही अनन्त !
मैं जल-थल-व्यापक अचल-तत्त्व
मुझसे परिपूरित दिग्-दिगन्त !!
× × ×
मैं पारस-मणि, मैं सुधा-सदन !
मैं कल्प-वेलि, मैं नन्दन-वन;
भू-मंडल मेरा भ्रू-विलास,
जल-निधि मेरा मंजुल-हुलास,
रवि-शशि मेरे उल्लास-हास,
मेरा अंतस्तल नील-गगन !
मैं ही अनादि, मैं ही अनन्त !

गिरि-गह्वर मेरा कर-कौशल,
दृग मेरे शत-शत तारक-दल,
मेरे सुखाश्रु हैं मेघ सजल,
वन-उपवन मेरे हरित-वसन !
मैं ही अनादि, मैं ही अनन्त !

मैं काँप उठा तब धरा हिली;
मैं चौंक पड़ा, चमकी बिजली;
मैं हँसा, खिल उठी कली-कली;
जब श्वास लिया, बह चली पवन !
मैं ही अनादि, मैं ही अनन्त !

मैं गिरि विराट, मैं लघु रजकण;
मैं नर हूँ, मैं ही नारायण,
मैं राम, स्वयं मैं ही रावण,
मैं एक अनेक असंख्य-वदन !
मैं ही अनादि, मैं ही अनन्त !

मैं राई को पर्वत कर दूँ,
मैं हिम गिरि का सिर नत कर दूँ,
मैं सिन्धु बिन्दु में ही भर दूँ,
मेरी लीला संहार-सृजन !
मैं ही अनादि, मैं ही अनन्त !

संताप - ताप - दुख - दैन्य - जाल,
सब रोग - शोक, दुर्भिक्ष, काल,
मेरी क्रीड़ाएँ कराल !
मेरा नर्तन उत्थान-पतन !
मैं ही अनादि, मैं ही अनन्त !

भ्रम सकल नाम-गुण-रूप-रंग,
मैं रज्जु दिख रहा ज्यों भुजंग,
मैं ही सागर, मैं ही तरंग !
मुझमें न कभी भी परिवर्त्तन !
मैं ही अनादि, मैं ही अनन्त !

मैं था, हूँ और रहूँगा नित,
गुण गाते मेरा साधु-सन्त !
मैं ही अनादि, मैं ही अनन्त !

मैं जल-थल व्यापक अचल-तत्त्व,
मुझसे परिपूरित दिग्-दिगन्त !!

२४ मैं सोचा करता हूँ प्रतिपल

मैं सोचा करता हूँ प्रतिपल।

जब आता स्वर्णिम उषाकाल,
हँस-हँस सरसिज होते निहाल,
कल-कूजन करते विहग-बाल,
तब गिरा-गिराकर ओस-बिन्दु
क्यों रोता रहता तारक-दल?
मैं सोचा करता हूँ प्रतिपल।

जब लेते बिदा अंशुमाली,
भर केशों में केसर-लाली—
सजती संध्या सुहाग वाली
तब मुरझा जाती है नलिनी
किस मूक व्यथा से हो विह्वल?
मैं सोचा करता हूँ प्रतिपल।

सज जाता तब रजनी का तन,
जगमग-जगमग हँसते उड़गन,
खिल उठते कुमुद प्रसन्न-वदन,
तब किसका दग्ध हृदय नभ से
गिरता है भू पर पिघल-पिघल?
मैं सोचा करता हूँ प्रतिपल।

जब आता सरस, सजल सावन,
हँस-हँस घन बरसाते जीवन,
सज जाता अवनी का आँगन,

तब तड़प-तड़प कर तड़ित-हृदय
होता रहता किसलिए विकल ?
मैं सोचा करता हूँ प्रतिपल।

सज जाता जब दीपक ललाम,
प्रमुदित हो उठते धाम-धाम,
द्युति छा जाती नयनाभिराम,
तब दीप-शिखा में शलभ-वृन्द
क्यों आहुत हो जाते जल-जल ?
मैं सोचा करता हूँ प्रतिपल।

× × ×

"आया यह मधुर वसन्त मास
सर्वत्र राग - रस - रंग - रास,
कलि-अलि का आलिंगन-विलास,—"
यह मादक मधु-वेला विलोक
क्यों व्याकुल है मेरा उर तल ?
मैं सोचा करता हूँ प्रतिपल !!

२५ हृदय के गान

लोचनों की राह, बह निकले हृदय के गान मेरे!

एक दिन मैं मुक्त, सुमधुर
कंठ से कुछ गा रहा था!
गान का स्वर गूंज कर,
मानो गगन में छा रहा था।

स्वर अचानक लड़खड़ाया, रुँध गया फिर कंठ मेरा—
द्रवित होकर धूल में मिलने लगे अरमान मेरे!
लोचनों की राह, बह निकले हृदय के गान मेरे!!

मौन बचपन के दिनों की,
एक अभिलाषा लिये मैं,—
और उसके पूर्ण होने की
सरस आशा लिये मैं,—

रख रहा था पाँव पथ पर विश्व ने काँटे बिछाये!
और वह था हँस रहा सुन आह के आह्वान मेरे।
लोचनों की राह, बह निकले हृदय के गान मेरे।

रो चुका इतना कि अब तो
आँख से आँसू न ढलते!
गा चुका इतना, नहीं अब
कंठ से हैं स्वर निकलते!

खौलकर मेरी नसों का है उबलता खून अब तो;
विश्व ने अब तक किये क्या क्या नहीं अपमान मेरे?
लोचनों की राह, बह निकले हृदय के गान मेरे!

२६ विश्व जो माँगे अगर वह मोल दूँ ?

विश्व जो माँगे अगर वह मोल दूँ ?—
तब मिलेगा प्यार उसका !
मिलेगा सत्कार उसका ।
प्राप्त तब मैं कर सकूँगा स्नेह सौ सौ बार उसका ।
विश्व के स्वर में मिलाकर स्वर अगर मैं बोल दूँ ?
विश्व जो माँगे अगर वह मोल दूँ !!

बेच दूँ अन्तःकरण को,
चूम लूँ जग के चरण को !
दुर्गुणों को ढाँक, पहनूँ सभ्यता के आवरण को ।
व्यर्थ हाँ में हाँ मिलाने कंठ निज यदि खोल दूँ,
विश्व जो माँगे अगर वह मोल दूँ !!

छोड़ दूँ प्रिय मुझे जो मग,
विश्व के पर पर धरूँ पग !
बस इसी ही शर्त पर मुझसे करेगा प्रेम, यह जग !
विश्व की यदि तुला में सर्वस्व अपना तोल दूँ ?
विश्व जो माँगे अगर वह मोल दूँ !!

२७ मर गया भगवान मेरा !

मर गया भगवान मेरा !

सुना हाहाकार उसने,
सुनी उर की आह मेरी,
सुनी कितनी बार उसने
तीव्र-तीक्ष्ण कराह मेरी।
किन्तु; वह पत्थर रहा चुप, सुन करुण आह्वान मेरा।
मर गया भगवान मेरा !

हृदय की प्रत्येक तह में
भरी कितनी चाह उसने ?
किन्तु उनकी पूर्ति की
अवरुद्ध कर दी राह उसने।
पूर्ण उसने किया अब तक कौन-सा अरमान मेरा ?
मर गया भगवान मेरा !

वेदना से विकल होकर
किया कितना स्मरण उसका
हुआ करुणा से द्रवित कब
लौह-अंतःकरण उसका ?
पहुँच उसके पास वापिस हुआ, व्याकुल गान मेरा !
मर गया भगवान मेरा !

शून्य में उच्छ्वास भर-भर
कर उसे मैंने पुकारा;
याद कर उसकी बहाई
व्यर्थ मैंने अश्रुधारा।
रे नहीं भगवान के भी हृदय में है स्थान मेरा !
मर गया भगवान मेरा !

२८ कैसे जी बहलाऊँ ?

कैसे जी बहलाऊँ ?

मन समाधि-सा है सूना,
अवसाद हृदय में छाया।
उरतल के कोने-कोने में
निविड़ विषाद समाया।
अन्तर की निस्तब्ध निराशा को कैसे सहलाऊँ ?
कैसे जी बहलाऊँ !

आशा की झिलमिल द्युति ले
दृग-दीप जल रहे मेरे।
भावी सुख के शुष्क स्वप्न लख
श्वास चल रहे मेरे।
जीवन की उदास बेला में हास कहाँ से लाऊँ ?
कैसे जी बहलाऊँ !

ऊब चुका मन, अब विहाग के—
राग नहीं हैं भाते।
आँखों के आँसू मेरे—
मुझको ही नहीं सुहाते।
कंठ रुँधा है, स्वर कम्पित है, गीत किस तरह गाऊँ ?
कैसे जी बहलाऊँ ?

२९ मृत्यु-भय

मेरे मन में क्यों बार-बार—
उठता है भय का मौन ज्वार ?

यों लगता है तन का अन्तिम
उच्छ्वास निकलनेवाला है।
"दृग-दीप बुझ रहे हैं मेरे,
जग का मिट रहा उजाला है।

"अंगार चिता की, शव को मेरे राख बनानेवाली है"—
इस शंका से कंपित हो उठते हृत्तन्त्री के तार-तार। मेरे०

मेरे जीवन के पतझड़ में
माना कोयल का राग नहीं।
अन्तर के मुरझाये फूलों
में, सौरभ नहीं, पराग नहीं।

तो भी यह आशा ले, दिन काट रहा था, साँसों को गिन-गिन
"मेरा उपवन फिर फूलेगा, आयेगी उसमें फिर बहार।" मेरे०

पर मेरे मन में बार बार
क्यों उठता भय का मौन ज्वार ?
सोचा, "जीवित मैं रहा आज तक
तृष्णाओं का भार लिये।
कितनी अतृप्त इच्छा-आकांक्षाओं
का हाहाकार लिये।

यों जीने से मरना अच्छा, फिर क्यों मरने से घबराऊँ ?"
यह सोच हृदय क्यों सिहर उठा, छा गया दृगों में अंधकार ?

मेरे मन में क्यों बार-बार
उठता है भय का मौन ज्वार ?

३० मैं पापों का शुचि गान लिये फिरता हूँ

मैं पापों का शुचि गान लिये फिरता हूँ।
मैं पापों की मृदु तान लिये फिरता हूँ।
यश का विषमय अभिशाप नहीं मैं लूँगा,
मैं अपयश का वरदान लिये फिरता हूँ।

मैं दुनिया में अपकार लिये फिरता हूँ।
दुनिया भर की धिक्कार लिये फिरता हूँ।
मैं नहीं चाहता मुकुट विजय का सिर पर,
मैं हारों का गलहार लिये फिरता हूँ।

मेरे माथे पर है कलंक का टीका।
मेरे सिर पर है सेहरा बदनामी का।
मेरे चेहरे पर कालिख पुती हुई है,
मुँह काला है दुनिया में मुझ पापी का।

जब से पाया यह पाप हलाहल आला।
मरता हूँ मैं पापों पर बन मतवाला।
ठुकरा दूँगा पैरों से यदि लाओगे—
तुम मेरे सम्मुख पुण्यामृत का प्याला।

मैं पापी ! मेरे पापों की बलिहारी।
मैं पापी हूँ ! हाँ पापी, सबसे भारी।
मेरे पापों की घर घर में चर्चा है,
मैं पापी हूँ ! पापों का अंध पुजारी !!

मैं झूठ-कपट की चाल लिये फिरता हूँ।
मैं छल-छद्मों का जाल लिये फिरता हूँ।
इस दुनियाँ के पापी लोगों की खातिर—
मैं पाप-पुष्प की माल लिये फिरता हूँ।

लख मुझे, कई लोगों ने मुझको रोका।
लख मुझे, कई लोगों ने माथा ठोका।
थूका मुझ पर लख मुझे कई लोगों ने,
लख मुझको काले कुत्तों का दल भोंका!!

मैं जग में दुर्व्यवहार लिये फिरता हूँ।
मैं जग में पापाचार लिये फिरता हूँ।
इस भवसागर को तरने की इच्छा से,
मैं पापों की पतवार लिये फिरता हूँ।

मैं पापों का ही मर्म सिखाता सबको।
मैं पापों के ही कर्म सिखाता सबको।
सुन लो—ऐ, सदाचार के ठेकेदारो,—
मैं दुराचार का धर्म सिखाता सबको।

मैं नहीं चाहता मिले स्वर्ग-सिंहासन।
ठुकरा दूँगा मैं त्रिभुवन का भी शासन।
बस मुझे नरक के कलुष-पूर्ण कोने में—
मिल जावे पापों का ही कुत्सित आसन।

बैठे थे पंडे-पंडित-गण मंदिर भर।
था भरा पोप-पादरियों से गिरजाघर।

मुल्ले-मौले भी बैठे थे मसजिद में,
इक सनक सवार हुई थी उनके सिर पर।

सब मुल्ले पढ़ते थे नमाज चिल्लाकर—,
पढ़ रहे पादरी थे बाइबिल को गाकर—,
कर रहे पाठ थे पंडित भी वेदों का—,
सब चौंके मेरी खबर कहीं से पाकर!

मुल्लों ने मुझको मन ही मन दुतकारा।
पोपों ने मुझको मन ही मन धिक्कारा।
मन ही मन मुझको कोसा पंडों ने भी,
अब राम-रहीम-मसीहा हुआ किनारा!!

मेरा सर्वत्र बखान हुआ करता है।
मेरे अवगुण का गान हुआ करता है।
मेरी निंदा के गीत सभी गाते हैं,
सुनकर मुझको अभिमान हुआ करता है!!

कोई मुझको 'नर-राक्षस' है बतलाता।
'चांडाल' मुझे कहकर कोई सुख पाता।
कुछ लोग 'नारकी-नीच' मुझे कहते हैं,
सुन यह सब, मैं मन में फूला न समाता!!

मैं पथ-भूलों की भूल लिये फिरता हूँ।
मैं पापी की पद-धूलि लिये फिरता हूँ।
पापी के उर में प्रतिपल चुभनेवाले—
पापों के तीखे शूल लिये फिरता हूँ!!

मैं पापी को ही प्यार किया करता हूँ।
मैं पापी का सत्कार किया करता हूँ।
हैं पुण्य-रोग से पीड़ित जो नर, उनका—
पापों से मैं उपचार किया करता हूँ।

मैं जग में पाप-प्रचार किया करता हूँ।
मैं जग में पाप-प्रसार किया करता हूँ।
जिनको पुण्यों का कोढ़ निकल आया है—
उन पतितों का उद्धार किया करता हूँ।

जो पुण्य-पंक से कलुषित हुए अभागे,
फिरते हैं जो पापों से भागे-भागे,
वे लख मेरे हाथों में पाप-पताका—
नत-मस्तक हो जाते हैं मेरे आगे।

मैं पापों की झंकार लिये फिरता हूँ।
पापों की जय-जयकार लिये फिरता हूँ।
मैं पीटा करता हूँ पापों का डंका,
मैं पापों की हुंकार लिये फिरता हूँ।

पापी लोगों का मैं हूँ युग-निर्माता।
मैं हूँ पापी लोगों का भाग्य-विधाता।
शत-शत स्वर से गुण गाता मैं पापों का।
पापों से मेरा है युग-युग का नाता।

मैं पापों का ही ध्यान किया करता हूँ।
पापों का मदिरा-पान किया करता हूँ।

यदि मुझे पुण्य की छूत कभी लग जाती,
तो पाप-सुधा से स्नान किया करता हूँ।

मैं कार्य अनाप-शनाप किया करता हूँ।
मैं पापी हूँ, नित पाप किया करता हूँ।
यदि सपने में भी पुण्य कभी कर जाता;
तो प्रतिक्षण पश्चात्ताप किया करता हूँ।

मैं पापों पर बलिदान दिया करता हूँ।
मैं पापों पर ही जान दिया करता हूँ।
जो लोग पुण्य की भीख माँगते मुझसे,
मैं उन्हें पाप का दान दिया करता हूँ।

पापों का मधुर विहाग लिये फिरता हूँ।
पापों का मीठा राग लिये फिरता हूँ।
देखो तो मैं अपने पापी मस्तक पर,
पापों का उजला दाग लिये फिरता हूँ।

मैं पापों का आलाप लिये फिरता हूँ।
मैं जग में पाप-प्रलाप लिये फिरता हूँ।
देखो तो मैं अपने पापी माथे पर,
पापों की उज्ज्वल छाप लिये फिरता हूँ।

मैंने न पुण्य - संचय में जन्म गँवाया।
मैंने पापों का अक्षय द्रव्य कमाया।
छाया है जग में पाप, और पापों में—
परमेश्वर की दिखती है मुझको छाया।

वेदों ने जिसको 'नेति-नेति' कह गाया,
धर्मों ने जिसे 'अनादि-अनंत' बताया,
उस परम पिता परमात्मा का भी मैंने—
अब पता पाप के चरण-कमल में पाया।

पापों में वेद-पुरान मुझे मिलता है।
बाइबिल—हाँ,—और कुरान मुझे मिलता है।
रामायण औ' श्रीमद्भगवद्गीता का—
पापों में गौरव-गान मुझे मिलता है।

जब मिली पाप में मुझको सब ऐयाशी,
जब मिला पाप में सुख मुझको अविनाशी,
क्यों मक्का और मदीना—अब मैं जाऊँ?
क्यों जाऊँ काबा? क्यों अब जाऊँ काशी?

कुछ पाप कमा लो अब भी अरे, गँवारो!
अंधो, अपनी आँखों को जरा उघारो।
नर-तन तुमने यह बड़े भाग्य से पाया—
कुछ पाप कमाकर अपना जन्म सुधारो।

जिसने पापों का खोला नहीं पिटारा,
जो फिरा पुण्य के पीछे मारा-मारा,
वह निरा मूर्ख, फिर कैसे पा सकता है,
इस जन्म-मरण के बंधन से छुटकारा?

मेरे पापों का कौन लगावे लेखा?
मेरी किस्मत में खिंची पाप की रेखा।

विधि का विधान कब मिटा कहो इस जग में ?
विधि के विधान को किसने मिटते देखा ?

पापों में ही कल्याण मुझे दिखता है।
पापों में जग का त्राण मुझे दिखता है
दिखता है मुझको मोक्ष पाप-बंधन में;
पापों में ही निर्वाण मुझे दिखता है।

सुन लो ओ, मेरे साधु-संत-संन्यासी !
मत बनो धर्म के वृथा अंध-विश्वासी।
तज लोक-लाज, अब करो पाप की पूजा,
है पाप अमर, अविनश्वर घटघटवासी।

किसलिए घूमते-फिरते हो तुम नंगे ?
क्या दर-दर फिरते हो बनकर भिखमंगे ?
किसलिए पुण्य के मोह-जाल में फँसकर,
बन गये आज तुम लुच्चे और लफंगे ?

किसलिए राख मलकर तुम अपने तन में—
मलते रहते हो हाथ, दुखी हो मन में ?
क्यों खाक छानते फिरते हो जंगल की ?
क्यों बने भिखारी घूम घूमकर वन में ?

दोनों आँखों को फोड़ लिया करते हो।
दोनों हाथों को जोड़ लिया करते हो।
तुम आँख फेर लेते हो इस दुनिया से,
जग-जीवन से मुँह मोड़ लिया करते हो।

तुम आँख. मूँद कर किसका ध्यान लगाते ?
तुम अंधकार में वस्तु कौन - सी पाते ?
"तमसो मा ज्योतिर्गमय।" अरे कहते हो,
पर त्याग ज्योति को, तम में तुम क्यों जाते ?

क्या कहती होंगी माताएँ औ' बहनें—
लख तुम्हें जरा - सी एक लँगोटी पहने ?
तुम भले घरों की बहू-बेटियों का भी—
करते कुछ भी न लिहाज, वाह क्या कहने !

क्या अरे धर्म ने तुमको यही सिखाया ?
क्या तुम्हें पुरुष ने यही सुमार्ग दिखाया ?
बेशर्म और बेअदब बने तुम इतने,
यह बेहूदापन किसने तुम्हें बताया ?

जो धर्म बना देता है तुम्हें भिखारी;
जो धर्म बनाता तुम्हें लँगोटी-धारी,
जो धर्म तुम्हें अंधा बनने को कहता,
वह धर्म न हो सकता, कदापि हितकारी।

तोड़ो, धर्माडम्बर से नाता तोड़ो।
ओ संतो, झूठा धर्म-जाल तुम छोड़ो।
क्या पा जाओगे मुक्ति धर्म करने से ?
क्या खूब ! अरे, यह गलत ख्याल तुम छोड़ो।

वर को तो तुम अभिशाप समझ बैठे हो।
तुम मणिमाला को साँप समझ बैठे हो।

जो शुद्ध सच्चिदानंद-परम परमेश्वर,
उसको तुम भ्रम से पाप समझ बैठे हो।

माना कि रमा है राम भुवन-मंडल में,
माना कि रमा है राम सकल जल-थल में,
पर वही तुम्हारा 'राम' नाम का ईश्वर—
है रमा पाप परमेश्वर के पदतल में।

"यदि पाप करोगे, घोर नरक पाओगे—।
दुख तुम्हें मिलेगा जहाँ कहीं जाओगे—।
तुम पाप त्याग कर, बनो पुण्य पथगामी।
यदि पाप करोगे पीछे पछताओगे॥"

"यदि पुण्य करोगे, स्वर्ग पहुँच जाओगे,
तुम सुख के ही सर्वदा गान गाओगे।
पुण्यों के पथ में फूल बिछे हैं सुख के।
तुम पाप मार्ग में दुख-कंटक पाओगे।"

H81|C54L

ऐसा! तो क्यों ईसा सूली पर लटका?
किसलिए मोहम्मद बोलो दर-दर भटका?
मंसूर और सुकरात चढ़े फाँसी पर,
यह कैसा सुख है अरे, पुण्य के पथ का?

P.GH1960

लवलीन रहा जो तुलसी राम-भजन में।
क्यों हुआ रोग से कष्ट उसी के तन में?
क्यों सूरदास हो गया आँख का अंधा?
क्या सुख मिलता है यही, पुण्य-चिंतन में?

पुण्यों में सुख मिलता है। मिले। बला से!
हम ऐसे सुख के भूखे और न प्यासे।
हम पाप करेंगे दुख ही सिर पर लेंगे।
हम पाप कमाकर जावेंगे दुनिया से।

पुण्यात्मा के पथ पर प्रसून हैं शत-शत।
पापी के पथ पर है विपत्ति का पर्वत।
पुण्यात्मा के पथ पर आराम बिछा है।
पापी के पथ में है आफत ही आफत।

हे योग साधनेवाले पुण्यात्माओ!
बेशरमी से तुम बाज आओ! शरमाओ।
तुम लोभ स्वर्ग का त्याग नहीं सकते हो,
तुम योगी हो या लोभी तुम्हीं बताओ!!

तुम त्यागी होने का क्यों दम भरते हो?
मालूम हमें है तप तुम क्यों करते हो।
तुम यार छुपे रुस्तम हो चुपके चुपके—
क्यों स्वर्ग अप्सराओं पर तुम मरते हो?

तुम करते हो सत्कर्म स्वर्ग जाने को।
तुम धर्म-कर्म करते हो सुख पाने को।
तुम इस दुनिया में पुण्य किया करते हो;
उस दुनिया के वैभव को अपनाने को।

हम करते घोर अधर्म नरक जाने को।
हम करते घोर कुकर्म कष्ट पाने को।

हम इस दुनिया में पाप किया करते हैं,
उस दुनिया के दारुण दुख अपनाने को।

जिन पापों से तुमने निज नाता तोड़ा,
उन पापों से ही हमने नाता जोड़ा।
छोड़ा इस जग का मुट्ठी भर सुख तुमने—,
हमने तो स्वर्ग-सुखों से निज मुँह मोड़ा !!

जिन पापों को तुमने अस्पृश्य बताया,
जिन पापों को तुमने अछूत ठहराया,
ठुकराया जिन पापों को तुमने पग से,—
उन पापों को ही हमने गले लगाया।

पुण्यात्माओं के अत्याचार अनेकों,
अन्याय असंख्य, यंत्रणा-भार अनेकों,
सदियों से हम चुपचाप झेलते आये,
पुण्यात्माओं के जुल्म-प्रहार अनेकों !!

अब उठो पापियो ! रख लो अपनी इज्जत।
ईश्वर का डर छोड़ो, मत हारो हिम्मत।
इस पाप-पताका के नीचे आ जाओ।
इस दुनिया में है हम लोगों का बहुमत।

यदि पाप न हो तो पुण्य मिलेगा कैसे ?
यदि रात न हो तो दिन निकलेगा कैसे ?
यदि तिमिर न हो तो ज्योति कहाँ से होगी ?
यदि पंक न हो तो कमल खिलेगा कैसे ?